

अपरिग्रह

डॉ. बीणा जैन

आज का मानव पार्थिव एषणाओं और भौतिक पिपासाओं की मरुमरीचिका के पीछे बेतहाशा दौड़ रहा है। उसे नहीं पता कि इस अविश्रान्त दौड़ का लक्ष्य बिन्दु क्या है? उसे मालूम नहीं कि उसकी मंजिल क्या है? वह दौड़-दौड़ कर हाँफ रहा है, पर फिर भी दौड़े ही जा रहा है। प्रश्न उठता है कि मनुष्य किस कारण इस संसार में मोहमाया के जाल में फंसा है। इस प्रश्न का उत्तर जैन धर्म में स्पष्टतः दिया गया है, वह है मनुष्य की परिग्रहवृद्धि। प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा गया है

“नत्थि एरिसो पासो पडिबन्धो अत्थि सब्बजीवाणं”

अर्थात् संसार में सब जीवों को जकड़ने वाले परिग्रह से बढ़कर कोई दूसरा बन्धन नहीं। आचारांग सूत्र में तो यहां तक कहा गया है कि—

“लोक वित्तं च णं उवेहाए, एए संगो अविजाणओ”

अर्थात् जीवात्मा ने आज तक जो भी दुःख परम्परा प्राप्त की है वह सब पर पदार्थों के संयोग से ही प्राप्त हुई है अतः संयोग संबंध का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए।

वास्तव में परिग्रह क्या है? आत्मा का बन्धनयुक्त होना ही परिग्रह है—

“परि समन्तात् आत्मानं गृह्णातीति परिग्रहः”।

पाणिनी ने भी परिग्रह की परिभाषा इस प्रकार की है कि परिग्रह वह है जो मनुष्य को चारों तरफ से घेरे रहता है—

“परिग्रहणं परिग्रहः”।

जैन धर्म में मूर्च्छा (आसक्त) को परिग्रह कहा गया है—
मूर्च्छाः परिग्रहः।

जीवन में आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करना अनुचित नहीं है परन्तु उन वस्तुओं का न स्वयं उपयोग करना न दूसरों को करने देना

यह मूर्च्छा का लक्षण है, आसक्ति है और यही संसार परिभ्रमण की जड़ है। परिग्रह होने या न होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वस्तु है या नहीं है, किन्तु इच्छा का होना और न होना आवश्यक है। केवल प्राप्त वस्तुओं का संग्रह ही परिग्रह नहीं है किन्तु जो अप्राप्त है पर उनके लिए तमन्नाएं हैं, लालसाएं हैं तो वे भी परिग्रह हैं। कहा भी है:—

“मूर्च्छान्नधियां सर्वं, जगदेव परिग्रहः।

मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवा परिग्रहः”

जिसकी मनोभावना आसक्ति से ग्रस्त है उसके लिए सारा संसार ही परिग्रह है। जो मूर्च्छा, ममता एवं आसक्ति से रहित है, उसके आधीन यदि सारा जगत भी हो तो वह अपरिग्रही है। जहां इच्छा है वहां परिग्रह है और जहां इच्छा का त्याग है, वहां परिग्रह का भी त्याग है, चाहे वह गृहस्थ करे अथवा साधु। ऐसा नहीं कि यदि गृहस्थ वस्त्रादि रखते हैं तो वे परिग्रही हैं और यदि साधु रखते हैं तो वे परिग्रही नहीं हैं। परिग्रही तो दोनों हैं पर वहां प्रश्न उन वस्तुओं के प्रति मूर्च्छा का आ जाता है।

भगवान महावीर दशवैकालिक सूत्र में कहते हैं:—

“न सो परिग्रहो वृत्तो, नायपुत्तेण ताइणा, मुच्छा परिग्रहोवृत्तो, इह वृत्तं महेसिणा।”

ज्ञानपुत्र महावीर ने पदार्थों को परिग्रह नहीं कहा है। उन्होंने वास्तविक परिग्रह मूर्च्छा को कहा है। वस्तु का होना एक चीज है और परिग्रह की वृत्ति-ममता-मूर्च्छा रखना दूसरी चीज है। शास्त्रकार वस्तुओं को परिग्रह इसीलिए कह देते हैं कि उन वस्तुओं पर से ममता दूर हो जाये क्योंकि परिग्रह की वृत्ति हटाकर ही मनुष्य हल्का बन सकता है। वस्तुओं के प्रति मनुष्य की आसक्ति उस मक्खी की तरह होनी चाहिए जो मिश्री पर बैठती तो है और उसकी मिठास का आनन्द भी लेती है पर ज्योंही हवा का झोंका आता है तो उड़

जाती है, न कि उस मधुमक्खी की तरह जो एक बार उस पर बैठ जाती है तो उससे चिपटे ही रहती है चाहे कितने ही हवा के झोंके क्यों न आयें, वह फंसी रहेगी यहां तक कि उसके प्राण क्यों न चले जायें। संसार में रहते हुए यदि मनुष्य पहली मक्खी की तरह बैठे तो वह तत्काल ही सब बन्धनों को तोड़ सकता है। यही कारण है कि भगवान महावीर परिग्रह पर सीधी चोट नहीं करते पर परिग्रह की वृत्ति पर सीधा प्रहार करते हैं। एक भिखारी फटा हुआ वस्त्र लिए फिरता है और उसने कोई व्रत-प्रत्याख्यान नहीं लिया है तो वह परिग्रही है भले ही उसके पास पर्याप्त सामग्री नहीं है। परन्तु राजा चेटक वैभवशाली होने पर भी अपरिग्रही था क्योंकि धन सम्पत्ति होते हुए भी उसने परिग्रहवृत्ति को तोड़ दिया था। तात्पर्य यह है कि जहां परिग्रह की लालसा है, लोभ है, ममता है और आसक्ति है वहां परिग्रह है, चाहे बाह्य वस्तु पास में हो या न हो और जहां लालसा और ममता नहीं है वहां चक्रवर्ती की ऋद्धि भी अपरिग्रह है। इसलिए दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

“जं पि वत्थं च पायं वा कंबलं पायंपुण्ण ।
जं पि संजम लज्जट्ठा, धारिति परिहरंति”

मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि वस्तुएं रखते हैं वे सब संयम रक्षा के निमित्त हैं उनके रखने में किसी प्रकार की परिग्रह बुद्धि नहीं है।

यदि चित्त में परिग्रह संबंधी आसक्ति न निकली या कम न हुई और ज्यों की त्यों बनी रही तो ऊपर से अपरिग्रह व्रत या परिग्रह परिमाण व्रत को अंगीकार कर लेना कुछ अर्थ नहीं रखता—

“चित्तेऽन्तर्ग्रन्थगहने बहिर्निर्ग्रन्थता वृथा”

जैन धर्म आदर्शवाद और यथार्थवाद का समन्वय करता है और कहता है कि जब तक मनुष्य गृहस्थावस्था में है उसके साथ उसका परिवार, समाज और राष्ट्र भी है। इन सब को छोड़कर वह अलग नहीं रह सकता है। जब वह अलग नहीं रह सकता है तो इन सबकी आवश्यकताओं की भी उपेक्षा नहीं कर सकता। इसी कारण धर्मशास्त्र में “इच्छा परिमाण” का व्रत बतलाया है। “आवश्यकता परिमाण” का व्रत नहीं बतलाया। भगवान महावीर ने जीवन निर्वाह के लिए धन की, उपेक्षा नहीं की उन्होंने आवश्यकता-नुकूल धन प्राप्ति को वैध माना। लेकिन उनके अनावश्यक संग्रह को समाज के लिए विषय माना। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है:—

“वित्तेण ताणं न लभे पमते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था ।”

यह धन का, वित्त का, अनावश्यक संग्रह ही तो है जो देश को, समाज को समस्याओं के विषमजाल में अभिग्रस्त किये हुए है। जैन धर्म के अनुसार यदि जीवन को सुचारु रूप से चलाना हो तो उस पर अंकुश रखकर ही चलाना चाहिए। जहां तक आवश्यकताएं हैं उसे वहीं तक ले जायें तो ठीक है मगर उससे आगे ले जाना अनुचित है। यही अपरिग्रह व्रत का आदर्श है। जहां तक

आवश्यकताओं का प्रश्न है परिग्रह का महत्व समझा जा सकता है किन्तु यदि परिग्रह वृत्ति उससे आगे चले और उस पर अंकुश लगा दे तो फिर परिग्रह भी एक दृष्टि से अपरिग्रह हो जाता है।

कुछ लोग दान और अपरिग्रह को एक ही समझते हैं क्योंकि दोनों का लक्ष्य एक ही है वह है मनुष्य का कल्याण। परन्तु वास्तव में दोनों की समतुल्यता करना उचित नहीं है क्योंकि जो दान में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है वह अपरिग्रह में अस्पष्ट रहता है और जो अपरिग्रह में स्पष्ट रहता है वह दान में अस्पष्ट रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि दान करने के लिए पहले वस्तुओं का संग्रह अत्यधिक मात्रा में किया जाता है और फिर उन्हें इसलिए दान किया जाता है कि जिससे दान लेने वाले का कल्याण हो। यद्यपि दान लेने वाले का कल्याण तो स्पष्ट रूप से होता ही है पर साथ ही दान देने वाले की प्रसिद्धि भी होती है। जबकि अपरिग्रह में मनुष्य संग्रहवृत्ति का ही त्याग कर देता है जिससे उसका कल्याण तो स्पष्ट ही हो जाता है और दूसरों का अस्पष्ट रूप से। एक तरफ लोगों से छिना जाए और दूसरी तरफ उन पर बरसाया जाये तो इसके परिणाम स्वरूप अहंकार का पालन होता है अर्थात् जनता से ही लेना और जनता को ही देना सर्वस्व का दान नहीं है। जैन धर्म में दान की अपेक्षा अपरिग्रह को अधिक महत्व दिया है। दान पर पर कीचड़ लगने पर धोना और अपरिग्रह कीचड़ न लगने देना है। नीतिकार कहते हैं कि कीचड़ न लगने देना धोने की अपेक्षा अच्छा है:—

“प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्”

अपरिग्रह महातप की ओर एक कदम है, मोक्षोन्मुखी भावना है ऐसा भगवान महावीर ने कहा है—

“अभंतरबाहिरए सव्वे गंधे तुमं विवज्जेहि”

अर्थात् आत्मा का बन्धनमुक्त होना, अन्तर बाह्य संपूर्ण ग्रंथियों का उच्छेदन करना अपरिग्रह है। इसकी व्याख्या कई प्रकार से की जाती है। यदि समाज को सामने रखा जाये तो इसका अर्थ है संचय का अभाव। इसका अर्थ है अपनी आवश्यकताओं को कम से कम करके दूसरों की सुख-समृद्धि में सहायक होना। आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए तो इसका अर्थ है स्व को घटाते-घटाते इतना कम कर देना कि पर ही रह जाये, स्व कुछ न रहे। उपरोक्त व्याख्या बौद्ध दर्शन की है। वेदान्ती इसी को दूसरे रूप में प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि स्व को इतना विशाल बना दो कि पर कुछ न रहे। दोनों का अंतिम लक्ष्य है “स्व” और “पर” में भेद को मिटा देना और यही आध्यात्मिक अपरिग्रह है। जैन दर्शन इसी को अनासक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है। भेद की सत्ता हमारे विकास को नहीं रोक सकती किन्तु अपने आपको किसी एक वस्तु के साथ चिपका देना ही विकास की सबसे बड़ी बाधा है। इसको जैन दर्शन ने मूर्च्छा कहा है। इस प्रकार अपरिग्रह का सिद्धान्त समाज और व्यक्ति दोनों के विकास का मूलमंत्र बन गया है। □